ओ३म्

धर्म का
सच्चा स्वरूप

लेखक

कविराज रघुनन्दनसिंह "निर्मल"

प्रकाशक

सुलतान चन्द एण्ड सन्स
२३, दरियागंज, नई दिल्ली

द्वितीयावृत्ति २००० मूल्य : 2 रुपये

लेखक की अन्य पुस्तकें

१.	गीता का सच्चा स्वरूप	५—०
२.	ईश्वर का सच्चा स्वरूप	२—०
३.	धर्म का सच्चा स्वरूप	२—०
४.	योग का सच्चा स्वरूप	२—०
५.	मुक्ति का सच्चा स्वरूप	२—०
६.	यज्ञ का सच्चा स्वरूप	२—०
७.	मन का वैदिक स्वरूप और उसको वश में करने के उपाय	२—०
८.	षोडश कला सम्पूर्ण दयानन्द	२—०
९.	सत्यार्थ प्रकाश दिग्दर्शन	२—०
१०.	वैदिक भजनावली	५—०
११.	रामायण उर्दू मन्ज़ूम प्रथम भाग	१०—०
१२.	रामायण उर्दू मन्ज़ूम द्वितीय भाग	१०—०
१३.	सत्यवती की गीता	२—
१४.	अकेला के दोहे	३—०
१५.	भारतमाता के लाल (उर्दू)	३—०
१६.	ज्ञानगंगा अर्थात् भगवत् गीता मन्ज़ूम (उर्दू)	४—०
१७.	आर्यों की गर्जना (उर्दू)	२—०

पुस्तक मिलने का पता—

[१] कविराज रघुनन्दनसिंह "निर्मल"
१९८७, किनारी बाजार, दिल्ली ११०००६

[२] श्री केशव लाल आर्य
१०९८, बाजार पायवाला, जामा मस्जिद, दिल्ली ११०००६

॥ ओ३म् ॥

धर्म का सच्चा स्वरूप

धर्म शब्द की व्याख्या

धर्म संस्कृत का शब्द है जो "धृ" धातु से बना है। यह धातु धारण करने के अर्थों में आती है। विद्वानों ने धर्म शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह इस प्रकार है:—

'धरति लोकान्ध्रियते पुण्यात्मभिरिति वा स धर्मः'

अर्थ—जिसने लोकों को धारण कर रखा है अथवा जो पुण्यात्मा लोगों द्वारा धारण किया जाता है उसको 'धर्म' कहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म के सहारे ही सारा संसार स्थित है। जड़ पदार्थ भी अपने २ धर्म का निरन्तर पालन करते दिखाई देते हैं। सूर्य लगातार अपनी कोली प:

भ्रमण कर रहा है। पृथिवी तथा अन्य नक्षत्र उसके आकर्षण में बंधे हुए उसके गिर्द घूम रहे हैं। अग्नि जल वायु आदि महाभूत भी अपना अपना काम कर रहे हैं। जब जड़ पदार्थ भी अपने अपने धर्म का पालन करते हैं तो फिर मनुष्य अपने धर्म का पालन क्यों न करे। जब जड़ पदार्थों का अपना पृथक २ धर्म है तो मनुष्य का भी अपना कोई धर्म अवश्य होना चाहिए।

धर्म की महिमा

धर्म की महिमा बताते हुए भगवान मनु कहते हैं:—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥

मनु० [अ० ८। १७]

अर्थ:—शरीर के नाश के साथ ही सब चीजों का नाश हो जाता है परन्तु एक धर्म ही सच्चा मित्र है जो मरने के पश्चात भी साथ जाता है। मनु महाराज ने और भी कहा है:—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

मनु० [अ० ४। २४१]

अर्थ—मृत शरीर को लकड़ी और मिट्टी के ढेले के समान पृथिवी पर छोड़ कर और मुख फेर कर बन्धु लोग (श्मशान से) लौट आते हैं परन्तु धर्म उसके साथ जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि धर्म का त्याग कदापि नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति, जो जाति अथवा जो देश धर्म का त्याग कर देता है वह नष्ट हो जाता है। भगवान मनु धर्म की अवहेलना का दुष्परिणाम बताते हुए लिखते हैं:—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।

मनु० [अ० ८ । १५]

अर्थः—मारा हुआ धर्म मार देता है और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षा करता है इसलिए धर्म का कभी हनन नहीं करना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि मारा हुआ धर्म हमको मार डाले।

'धर्म प्राप्ति का अधिकारी कौन'

धर्म प्राप्ति किसको और कैसे हो सकती है इस विषय पर मनु महाराज लिखते हैं—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

मनु० [अ० २ । १३]

अर्थः—जो लोग अर्थ (रुपया पैसा अथवा सांसारिक पदार्थ) और काम (स्त्रीप्रसंगादि) में आसक्त नहीं हैं उनको ही धर्म का ज्ञान हो सकता है और धर्म को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए वेद सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जो लोग धन और स्त्री के चक्कर से निकल चुके हैं उन्हीं को धर्म का ज्ञान हो सकता है। इसके विपरीत जो लोग रुपये पैसे और कामदेव के फेर में पड़े हुए हैं उनको धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

'धर्म एक है वा अनेक'

आजकल नाना प्रकार के मतमतान्तर संसार में फैले हुए हैं। अपनी २ विचार-धारा को सब धर्म के नाम से पुकारते और सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। इन मतमतान्तरों में परस्पर भारी विरोध पाया जाता है। एक मत जिस चीज की प्रशंसा करता है दूसरा उसी को बुरा कहता है। एक की दृष्टि में जो बातें मनुष्य का कल्याण करने वाली हैं वही दूसरे की दृष्टि में हानिकर हैं। इन मतमतान्तरों के परस्पर विरोधी विचारों से संसार को जो नुकसान पहुंचा

है और मनुष्य जाति की जो हानि हुई है वह किसी से छुपी हुई नहीं है। यदि बुद्धिपूर्वक विचारा जाय तो धर्म वास्तव में एक है। जो मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाले सार्वभौम सिद्धान्त हैं वह सबके लिए समान हैं। सच्चाई हमेशा एक होती है। उदाहरणार्थ दो और दो चार होते हैं, यदि कोई इसको न मान कर दो और दो को पांच, छः, आठ अथवा दस बतावे तो कोई उसकी बात मानने को तैयार न होगा। जो सत्य पर आधारित सर्व-हितकारी नियम और सिद्धान्त हैं वही वास्तव में धर्म कहे जा सकते हैं। स्वार्थी अविद्वान और पाखंडियों के चलाए हुए मतमतान्तरों को धर्म नहीं कहा जा सकता। आजकल कुछ लोग ऐसा कहते दिखाई देते हैं कि "सब मज़हब अच्छे हैं, हम तो सारे मज़हबों को मानते हैं" आदि आदि। इस विचारधारा का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। परस्पर विरोधी बातों का प्रचार करने वाले यह सारे मज़हब क्योंकर अच्छे हो सकते हैं। सत्य सत्यही रहेगा औरझूठ झूठ ही। गधा घोड़ा एक नहीं हो सकता सच और झूठ को एक तराजू में तोलने का यत्न करना मूर्खता है। मारकाट का प्रचार करने वाले मज़हबों को यदि मज़हब मानोगे तो संसार की शान्ति एक क्षण भी कायम नहीं रह सकती। इसी प्रकार पाखंड अविद्या और स्वार्थ पर आश्रित विचारधाराओं को यदि मज़हब का नाम दोगे तो समस्त

संसार में अज्ञान और धूर्तता का बोलबाला हो जायगा। अतः स्पष्ट है कि सबका कल्याण करने वाले जो सार्वभौम सिद्धान्त हैं उन्हीं का नाम धर्म है और वह मनुष्यमात्र के लिए समान हैं। जो मनुष्य कहता है कि 'सारे मजहब अच्छे हैं और मैं सारे मज़हबों को मानता हूँ' वह वास्तव में किसी मजहब को भी नहीं मानता। उसको मालूम ही नहीं कि धर्म किसको कहते हैं। उसकी स्थिति तो उस स्त्री के समान है जो यह कहती है कि मैं सबकी पत्नी हूँ। अपने को सबकी पत्नी कहने वाली स्त्री किसी की भी पत्नी नहीं हुआ करती, वह तो केवल वेश्या ही हो सकती है। इसलिए सच को सच और झूठ को झूठ कहना ही प्रत्येक बुद्धिमान का कर्तव्य है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि इसीलिये प्रदान की है कि वह सच और झूठ का विवेक कर सके। यदि वह उस बुद्धि से काम न लेकर सच और झूठ को एक समान मान बैठे तो इससे बढ़कर मूर्खता और ईश्वरीय नियमों की अवहेलना और क्या होगी। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने आजीवन सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहा, किसी के दबाव में आकर या किसी को प्रसन्न करने के लिए कोई ग़लत बात कभी नहीं कही। इसके कारण उनके शिर पर अनेक विपत्तियां आईं, यहां तक कि प्राण भी गये परन्तु उन्होंने सहर्ष इसको स्वीकार किया। प्रत्येक आर्य को उन्हीं का अनुकरण करना योग्य है।

'क्या राजनीति धर्म का अंग है'

दुर्भाग्यवश आजकल इस विचार-धारा का बड़ा प्रचार किया जा रहा है कि राजनीति और धर्म दो पृथक पृथक वस्तु हैं, राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं वह वास्तव में जानते ही नहीं कि धर्म क्या है। कर्तव्य-पालन का नाम धर्म है और बिना कर्तव्य पालन के राज्य कैसे चलाया जा सकता है। धर्म को जाने बिना तो राज्य चल ही नहीं सकता। आर्यावर्त में आजतक जितने भी बड़े २ राजा हुए हैं उन सबके राज्य का आधार धर्म पर था। यह धर्म ही था जिसके कारण राजा दशरथ ने अपने प्राण गंवाये, यह धर्म ही था जिसके कारण मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र राज्य को ठोकर मारकर बन को गये। यह धर्म ही था जिसका पालन करने के लिए राजा हरिशचन्द्र ने राज्य पर लात मारी और नाना प्रकार के असहनीय कष्ट सहे। राजा युधिष्ठिर के राज्य का आधार भी धर्म पर ही था। कौन नहीं जानता कि महाभारत का युद्ध समाप्त होने के पश्चात महाराज युधिष्ठिर धर्मोपदेश लेने के लिए भीष्मपितामह की शरण में गये जो बाण-शय्या पर पड़े हुए मृत्यु की अन्तिम घड़ियां गिन रहे थे। हमारा सारा इतिहास हमको यह बताता है कि आर्यावर्त के चक्रवर्ती राजाओं ने धर्म के आधार पर ही समस्त संसार

पर शासन किया। धर्म एक व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत सब प्रकार के धर्म आजाते हैं जैसे राजधर्म, प्रजाधर्म, गृहस्थ-धर्म, संन्यास-धर्म आदि आदि। इस बात को न जान कर जो लोग राजनीति को धर्म से अलग बताते हैं उनके विषय में यही कहना पड़ता है कि वह धर्म के मर्म को नहीं जानते। खाना पीना, चलना फिरना, सोना जागना, उठना बैठना आदि कोई भी काम धर्म को जाने बिना सुचारु रुप से नहीं हो सकता तो फिर राज्य-संचालन जैसा उत्तरदायित्व का काम धर्म को जाने बिना क्योंकर हो सकता है। वेद, मनुस्मृति, महाभा-रतादि ग्रन्थों में राजधर्म की पूर्ण व्याख्या मिलती है—उसको पढ़ने से ही राजनीति का सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः यह पूर्णरुप से सिद्ध है कि राजनीति भी और अंगों की भांति धर्म का ही एक अंग है।

'धर्म के लक्षण'

भिन्न २ आचार्यों ने धर्म के भिन्न २ लक्षण किए हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम उसकी यहां विशेष रुप से व्याख्या करेंगे। वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद धर्म का लक्षण करते हुए लिखते हैं:—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

वैशेषिक दर्शन अ० १ । पा० १ । सू०२॥

अर्थः—जिससे अभ्युदय (चक्रवर्ती राज्य पर्यन्त सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) दोनों की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिससे जीवन में महान सांसारिक उन्नति हो और मरने के पश्चात मोक्ष प्राप्त हो उसका नाम धर्म है। धर्म सांसारिक उन्नति में बाधक नहीं प्रत्युत साधक है। कर्तव्य का पालन करते हुए लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति प्राप्त करना ही धर्म का लक्ष्य है।

महर्षि जैमिनी धर्म का लक्षण करते हुये पूर्व-मीमांसा दर्शन में लिखते हैं:—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'

पूर्व-मीमांसा दर्शन अ० १। पा० १। सू० २।

अर्थः—प्रेरणा के लक्षण को लिए हुए जो अर्थ है उसका नाम धर्म है। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस सत्याचरण की वेद प्रेरणा करता है, उसका नाम धर्म है और जो उसके विपरीत है वह अधर्म है। महर्षि जैमिनी का किया हुआ धर्म का यह लक्षण इतना व्यापक और स्पष्ट है कि जिसको एक साधारण बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है।

धर्म के चार लक्षण

मनु ने धर्म के चार लक्षण किये हैं जो इस प्रकार हैं —

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनु० [अ० २ । १२]

अर्थः—वेद, स्मृति, सदाचार (सत्पुरुषों का आचार) और जो अपनी आत्मा को प्रिय हो—यह चारों साक्षात धर्म का लक्षण हैं।

'धर्म का पहला लक्षण वेद और उसका महत्व'

वेद किसी मनुष्य की कृति नहीं है परन्तु ईश्वरीय ज्ञान है यह बात एक स्वर से सब ऋषि मुनि और आचार्य कहते चले आए हैं। वेद को श्रुति भी कहते हैं अर्थात् सुना हुआ ज्ञान। आज तक किसी ने वेद बनाने वाले को नहीं देखा। सृष्टि की आदि में ईश्वरने मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ जो ज्ञान चारऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा) के द्वारा संसार में प्रकट किया उसी को वेद के नाम से पुकारा जाता है। वेद संख्या में चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। जितना भी ज्ञान इस समय संसार में फैला हुआ दिखाई देता है उस सबका मूल आधार वेद है। यदि परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में वेद का ज्ञान प्रकट न करते तो आज मनुष्य की वही दशा होती जो

पशुओं की है। यह और बात है कि आज हमको यह बात विदित नहीं रही है कि इस सारे ज्ञान का मूल स्रोत वेद में है। जिस प्रकार हमको अधिक से अधिक अपनी दो चार पीढ़ियों का ज्ञान होगा परन्तु यदि कोई हम से दस बीस पीढी पहले का हाल पूछने लगे तो हमको विवश हो कर यही उत्तर देना पड़ेगा कि 'इसमें तो सन्देह नहीं कि दस बीस पीढ़ी पहले हमारा कोई पूर्व-पुरुष था तो अवश्य परन्तु वह कौन था और उसका क्या नाम था यह हम नहीं बता सकते' ठीक यही बात वेदों के विषय में है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि परम्परा से जो ज्ञान चला आ रहा है उसका कोई मूल आधार अवश्य है परन्तु वह आधार क्या है, यह बात आज मानव प्रायः भूल चुका है। बिना बीज के वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि परमात्मा सृष्टि की आदि में वेद का ज्ञान न देते तो संसार में ज्ञान का विस्तार क्योंकर होता। समस्त ऋषि मुनि और आप्त पुरुष यह बात निरन्तर बताते चले आ रहे हैं कि ज्ञान का मूल स्रोत वेद है।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन में लिखते हैं:—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'

वैशेषिक दर्शन अ० १। आ० १। सू० ३।

अर्थः—परमात्मा का वचन होने के कारण वेद प्रमाण हैं।

महामुनि गोतम न्यायदर्शन में कहते हैं:—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'

न्याय दर्शन अ० २। आ० १। सू० ६७ ॥

अर्थः—जिस प्रकार मन्त्र (सत्य पदार्थ विद्या का प्रकाश करने वाले विचार) और आयुर्वेद को प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार वेदों का प्रमाण करना चाहिए क्योंकि आप्तपुरुष‡ इसको प्रमाण मानते चले आए हैं।

पतंजलि मुनि भी योगदर्शन में परमात्मा को ही जगत का आदि-गुरू बताते हैं :—

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'

योगदर्शन। समाधिपाद। सू० २६ ॥

अर्थः—काल के द्वारा नष्ट न होने के कारण, वह परमात्मा हमारे पूर्वजों का भी गुरु था।

आचार्य कपिल भी सांख्यशास्त्र में वेद के स्वतःप्रमाण होने का कारण बताते हुए लिखते हैं:—

'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'

सांख्यदर्शन अ० ५। सू० ५१ ॥

---

‡ छलकपटादि से रहित सत्य का उपदेश करने वाले पूर्ण विद्वान धर्मात्मा और परोपकारी पुरुष को 'आप्त' कहते हैं।

अर्थः—परमात्मा की अपनी शक्ति से प्रकट होने के कारण वेद स्वतः प्रमाण हैं अर्थात् वेद की सिद्धि वेद से ही होती है, किसी अन्य ग्रन्थ से नहीं।

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से समस्त छोटे बड़े पदार्थों को दर्शाता है, उसी प्रकार वेद भी सारी विद्याओं का प्रकाश करते हैं। यह बात सब ऋषि मुनि आदि-काल से कहते चले आ रहे हैं। भगवान मनु वेद का महत्व बताते हुए कहते हैं :—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

मनु० (अ० २। १६८॥)

अर्थः—जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वेद का अध्ययन न करके अन्य ग्रन्थों पर परिश्रम करता है वह कुटुम्ब सहित जीते जी शीघ्र ही शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है।

वेद की निन्दा करने वाले को मनु नास्तिक बताता है:—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

मनु० (अ० २। ११॥)

अर्थः—जो द्विज कुतर्क का सहारा लेकर ज्ञान के मूल वेद और शास्त्र का अपमान करे, उस वेदनिन्दक नास्तिक का साधु पुरुषों को बहिष्कार कर देना चाहिये।

वेद की महिमा बताते हुए श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को सम्बोधन करके गीता में कहते हैं:—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

गीता अ० ३ । १४, १५ ॥

अर्थः—अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से है और यज्ञ की उत्पत्ति का आधार कर्म है। कर्म की उत्पत्ति वेद से ज्ञान अर्थात् कर्म का ज्ञान वेद से होता है और वेद अविनाशी परमात्मा के उत्पन्न किये हुए हैं इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म की नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठा होती है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद ईश्वरकृत हैं और मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराने वाले हैं इसीलिए मनु ने वेद को धर्म का प्रथम लक्षण बताया अर्थात् वेद जिस की प्रेरणा करते हैं वह धर्म है और जो उसके विपरीत है वह अधर्म है।

'धर्म का दूसरा लक्षण स्मृति'

नहीं है परन्तु प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर केवल मनुस्मृति ही मानने योग्य है क्योंकि वही एकमात्र वेदानुकूल है। मनुस्मृति के सम्बन्ध में सामवेदीय ब्राह्मण में लिखा है :—

'यत्किञ्चिन्मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः'

अर्थः—जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि की भी औषधि है।

श्रुति (वेद) और स्मृति में यदि कहीं विरोध हो तो वहां श्रुति को प्रधानता देनी चाहिये क्योंकि श्रुति स्वतः प्रमाण है अर्थात् अपना प्रमाण आप ही है और शेष सब ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं अर्थात् वेद के अनुकूल हों तो मानने योग्य हैं, अन्यथा नहीं।

वेद के पश्चात् धर्म को जानने का दूसरा साधन स्मृति है इसीलिये मनु ने इसको धर्म का दूसरा लक्षण माना है।

'धर्म का तीसरा लक्षण सदाचार'

सत्पुरुषों के आचार को 'सदाचार' कहते हैं। आदिकाल से शास्त्रज्ञ विद्वान परोपकारी सज्जनों का जो आचार व्यवहार चला आता है वह वेदानुकूल होने से कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराने वाला है। सदाचारी पुरुषों का संग अथवा उनका अनुकरण मनुष्य को सदाचारी बना देता है। सदाचार के नियमों के अनुकूल चलना धर्म और प्रतिकूल चलना अधर्म है। वेद और स्मृति के पश्चात यदि मनुष्य को धर्म का ज्ञान कराने

वाली कोई चीज है तो वह सत्पुरुषों का आचार ही है इसीलिये मनु ने इसको धर्म का तीसरा लक्षण कहा है।

धर्म का चौथा लक्षण–आत्मानुकूल आचरण

जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे अर्थात् आत्मा के अनुकूल हो वह धर्म और जो उसके विरुद्ध हो वह अधर्म कहलाता है। जिस काम को करते समय किसी प्रकार का भय संकोच और लज्जा न हो और आत्मा भीतर से यह कहे कि यह काम अच्छा है उसको धर्म समझना चाहिये। इसके विपरीत जिस काम को करने में भय संकोच और लज्जा का अनुभव हो और आत्मा भीतर से अनुमति न दे उसको अधर्म समझ कर त्याग देना चाहिये। जब मनुष्य कोई बुरा काम करने लगता है तो भीतर से आवाज़ आती है कि 'यह काम बुरा है'। यह आवाज़ परमात्मा की ओर से होती है जो जीव के भीतर व्यापक रह कर पग २ पर उसका पथ प्रदर्शन करता है। यदि कोई उस आवाज़ को सुनकर उस काम को न करे तो वह पाप से बच जायगा। इससे क्या सिद्ध हुआ कि धर्माधर्म का ज्ञान आत्मा को स्वयमेव हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' का यह भी अर्थ कर सकते हैं कि जो व्यवहार अपने को प्यारा लगे वही औरों के प्रति भी करे और जो अपने को अप्रिय हो वह दूसरों के प्रति न करे। उदाहरणार्थ

आपको सुख अच्छा लगता है, आप नहीं चाहते कि आपके सुख में कोई बाधा डाले तो आपका भी कर्तव्य हो जाता है कि आप किसी दूसरे के सुख में बाधक न हों। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये। इस दृष्टिकोण से यदि मनुष्य संसार में कार्य करे तो उससे पाप हो ही नहीं सकता। सारांश यह कि जिस काम को करने की आत्मा भीतर से प्रेरणा करे उसको धर्म समझना चाहिए। आत्मा की आवाज़ को कुचल कर जो कर्म किया जाता है वह अधर्म है इसीलिए मनु ने आत्मानुकूल आचरण को धर्म का चौथा लक्षण कहा है।

धर्म के दश लक्षण

मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षण और भी बताये हैं जो इस प्रकार हैं:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनु० [अ० ६ । ९२ ॥]

अर्थ:—धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), मन तथा इच्छाओं का दमन, अस्तेय (चोरी न करना), शरीर और मन की पवित्रता, इन्द्रियनिरोध, बुद्धि को बढ़ाने वाले काम, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—यह धर्म के दश लक्षण हैं। इनमें से प्रत्येक लक्षण की व्याख्या यहां की जायेगी।

'धैर्य'

धैर्य्य शब्द का अर्थ है सन्तोष रखना अर्थात् किसी भी अवस्था में सन्तोष को हाथ से न जाने देना। मनुष्य के जीवन में नाना प्रकार की घटनायें होती रहती हैं, कुछ हर्ष का कारण होती हैं तो कुछ शोक का। उत्तम पुरुष वही है जो प्रत्येक अवस्था में सम रहे और दुःख से घबरा कर धीरज को छोड़ न बैठे। धैर्य्यहीन पुरुष कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता इसीलिए मनु ने धैर्य्य को धर्म का प्रथम अंग माना है।

'क्षमा'

क्षमा शब्द का अर्थ है सहनशीलता। सुख दुःख, हानि लाभ, शीत उष्ण, निन्दा स्तुति, मान अपमान आदि द्वन्द्वों का सहन करना और उनसे प्रभावित न होना सहनशीलता कहलाती है। मनुष्य का जीवन संघर्षमय है—उसमें पग पग पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सहनशील मनुष्य सब प्रकार की विपत्तियों को विधि का विधान समझकर सहन करता है और घबराता नहीं, उसके विपरीत असहनशील पुरुष ज़रा सी विपत्ति में रोने लगता है। सहनशीलता मनुष्य को सब प्रकार की विपत्तियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती है और यह शक्ति ही जीवन में सफलता की कुंजी है। असहनशील पुरुष संसार में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए मनु ने क्षमा को धर्म का दूसरा अंग माना है।

'दम'

दम शब्द का अर्थ है दमन करना अर्थात् मन को दुष्कर्मों की ओर से हटाकर सत्कर्मों में प्रवृत्त करना और इस प्रकार वश में रखना कि पाप करने की इच्छा भी कभी उत्पन्न न हो। मन को वश में किये बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। मन अत्यन्त चंचल है, इसको वश में करना कोई आसान काम नहीं है। मन के विषय में श्रीकृष्ण महाराज से अर्जुन ने निम्नलिखित प्रश्न पूछा था :—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

गीता अ० ६ । ३४ ।।

अर्थ:—हे कृष्ण, मन चंचल, मथन करने वाला, बलवान और दृढ़ है, उसको वश में करना मैं वायु को वश में करने के समान अत्यन्त कठिन समझता हूँ। श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

गीता अ० ६ । ३५ ।।

अर्थ:—हे महाबाहु, निःसन्देह मन कठिनता से वश में आने वाला और चंचल है परन्तु हे कुन्तीपुत्र, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसको वश मे किया जा सकता है।

मन का वश में करना पाप से बचने के लिए अत्यन्त आवश्यक है इसीलिये मनु ने दम को धर्म का तीसरा अंग माना है ।

अस्तेय (चोरी न करना)

जो वस्तु अपनी नहीं है उसको अपनी समझना और लेने की चेष्टा करना चोरी कहलाती है। पराया धन, पराई स्त्री और पराई वस्तु पर दृष्टि रखना महापाप है। चाणक्यनीति में लिखा है:—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

चाणक्यनीति अ० १२ । १४ ॥

अर्थः—जो मनुष्य पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है वह पण्डित है।

कहने का अभिप्राय यह कि पराई चीज़ को लेने की चेष्टा करना पाप है । वेद कहता है:—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

यजुर्वेद अ० ४० । मं० १ ॥

अर्थः—हे मनुष्य ! जो कुछ भी इस संसार में पदार्थ दिखाई देते हैं उन सबमें परमात्मा वास करता है अर्थात् वही

एकमात्र इन सबका स्वामी है। तू त्यागपूर्वक इन पदार्थों का भोग कर अर्थात् इनको अपना न समझता हुआ इनका उपयोग कर। इनका लालच मत कर अर्थात् इनको अपना न समझ क्योंकि यह धन (सामग्री) किसका अर्थात् किसी का भी नहीं है, केवल परमात्मा का है।

उपर्युक्त वेदमन्त्र से स्पष्ट है कि परमात्मा ने हमको हमारी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए सब पदार्थ दिये हैं। यदि कोई पदार्थ आवश्यकता से अधिक हमारे पास है तो हमको उसे किसी ऐसे व्यक्ति को दानरूप में दे देना चाहिए जिसको उसकी आवश्यकता है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो परमात्मा के चोर हैं। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना समझ बैठना मूर्खता है और अमानत में खयानत से कम नहीं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

'मान लीजिये कि आप किसी के घर अतिथिरूप में जाते हैं, वह आपको अतिथि समझ कर सब प्रकार की सुविधायें देता है। रहने के लिए स्थान, नहाने के लिए जल, साबुन वस्त्र आदि, उपयोग के लिए तेल कंघा शीशा आदि, बैठने के लिए आसन, खाने के लिए भोजन और शयनार्थ शय्या प्रदान करता है परन्तु आप यदि उन चीजों को अपनी समझकर वहां से उठाकर ले जाने लगें तो आप चोर समझे जायेंगे। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं को, जो परमात्मा ने आपको आवश्यकता पूर्ण करने के लिए दी हैं, यदि आप अपनी मान बैठें तो आप चोरों से किसी प्रकार कम नहीं ॥'

चोरी पाप है, चोरी से बचना पाप से बचना है इसीलिए मनु ने चोरी न करने को धर्म का चौथा अंग बताया है।

'शौच'

शौच शब्द का अर्थ है शारीरिक और मानसिक पवित्रता। शरीर को अपवित्र रखने से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। रोगी होना पाप है। रोगी मनुष्य संसार में कोई शुभ काम नहीं कर सकता। वर्णाश्रम धर्म का पालन और अन्य वेद-विहित कर्म करने के लिये भी स्वास्थ्य परमावश्यक है जैसा कि कहा भी है:—

'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'

चरकसंहिता। सूत्रस्थान। अ० १। १५॥

अर्थ:—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति का उत्तम (प्रधान) मूल (कारण) आरोग्य है।

निम्नलिखित वेदमन्त्र द्वारा हम परमात्मा से नित्य आरोग्य की प्रार्थना करते हैं:—

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥'

यजुर्वेद अ० ३६, मं० २४॥

अर्थ:—हम सौ वर्ष तक देखे, सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष पर्यन्त दीनता रहित हों और सौ वर्ष से अधिक भी देखें, जीवें, सुनें, बोलें अदीन रहें।

स्वस्थ रहते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिये इसके लिए शारीरिक शौच अत्यन्त आवश्यक है।

शारीरिक शौच की भांति मानसिक पवित्रता भी मनुष्य के लिए कल्याण की जननी है। स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ ही होना चाहिये। यदि मन रोगी है तो वह नीरोग शरीर को भी रोगी बना देगा। मन को स्वस्थ रखने के लिए उसको स्वच्छ रखना आवश्यक है। मन पर यदि राग द्वेष ईर्ष्या पक्षपात आदि का मैल चढ़ा हुआ है तो उसको स्वस्थ कैसे कहा जा सकता है। यही कारण है कि मनु ने मानसिक पवित्रता को शारीरिक स्वच्छता के साथ २ धर्म का आवश्यक अंग माना है।

'इन्द्रियनिग्रह'

इन्द्रियां दश हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां। आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा—यह पांच ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं और हाथ, पांव, लिंग, गुदा और वाक्—यह पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अपना २ विषय है जैसे आंख का देखना, नाक का सूंघना, कान का सुनना, रसना का चखना, त्वचा का छूना। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मेन्द्रिय भी अपना २ काम करती है। इन इन्द्रियों को वश में किए बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण महाराज गीता में अर्जुन से कहते हैं:—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।

गीता । अ० ३ । ३४ ।।

अर्थः—एक एक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष ठहरे हुए हैं—उनके वश में मनुष्य को नहीं आना चाहिए क्योंकि वह दोनों उसके मार्ग में रुकावट डालने वाले शत्रु हैं ।

श्रीकृष्ण महाराज ने और भी कहा है:—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।

गीता । अ० २ । ६७ ।।

अर्थः—विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ हो लेता है वह इन्द्रिय उस मनुष्य की बुद्धि का उसी प्रकार नाश कर देती है जिस प्रकार पानी में फसी हुई नौका का वायु ।

इन्द्रियों को वश में किए बिना बुद्धि भी स्थिर नहीं हो सकती । श्रीकृष्णमहाराज गीता में अर्जुन से कहते है:—

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'

गीता । अ० २ । ६१ ।।

अर्थः—जिस मनुष्य की इन्द्रियां उसके वश में हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से प्रकट है कि इन्द्रियनिग्रह मनुष्य के लिए कितना आवश्यक है । जो मनुष्य इन्द्रियों के वश में पड़ा

हुआ है वह कोई भी उत्तम कार्य नहीं कर सकता, इसी कारण मनु ने इन्द्रियनिग्रह को धर्म का छटा अंग कहा है।

धीः (बुद्धि)

बुद्धि से ही ज्ञानप्राप्ति होती है और ज्ञानप्राप्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। बुद्धि को बढ़ाने वाले काम करना और बुद्धि के अनुसार चलना प्रत्येक मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। यदि बुद्धि नष्ट हो जाए तो मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। बुद्धि की रक्षा के लिए भंग, अफीम, शराब, गांजा आदि मादक पदार्थों के सेवन और आलस्य प्रमाद तथा दुष्टजनों की संगति से दूर रहना चाहिए। वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, सज्जन पुरुषों का संग, ब्रह्मचर्यपालन, योगाभ्यास, घृत दुग्धादि उत्तम पदार्थों का सेवन—यह सब बुद्धि बढ़ाने वाले कार्य हैं। कई औषधियां भी ऐसी हैं जिनके सेवन से बुद्धि बढ़ती है जैसे ब्राह्मी, शंखपुष्पी, वच आदि। बुद्धिवर्धक औषधियों में शंखपुष्पी प्रधान है जैसे कहा भी है:—

'मेध्या विशेषेण च शंखपुष्पी'

चरकसंहिता। चिकित्सास्थान। अ० १। पा० ३। ९॥

अर्थ:—शंखपुष्पी विशेष रूप से बुद्धि को बढ़ाने वाली है।

बिना बुद्धि के धर्माधर्म का विवेक नहीं हो सकता और धर्म का विवेक हुए बिना कोई भी श्रेष्ठ आचरण सम्भव नहीं

यदि बुद्धि नहीं होगी तो मनुष्य अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मान कर नाना प्रकार के अनर्थ कर डालेगा इसलिये मनु ने बुद्धि को धर्म का सातवां अनिवार्य अंग माना है।

विद्या

पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों को जान कर उनसे यथायोग्य लाभ उठाना केवल विद्या के द्वारा ही सम्भव है। विद्यारहित पुरुष में और पशु में कोई अन्तर नहीं है जैसा कि कहा है:—

'विद्याविहीनः पशुः'

नीतिशतक। १। २०॥

अर्थः—विद्याहीन पुरुष पशु के समान है।

जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही जानना विद्या कहलाती है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में अविद्या का जो लक्षण किया है वह इस प्रकार है:—

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥'

योगदर्शन। साधनपाद। सू० ५॥

अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मता में आत्मता की भावना करना अविद्या कहलाती है।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो चीज़ जैसी नहीं है उसका वैसा जानना अविद्या है। यथार्थ ज्ञान को विद्या कहते हैं। विद्या मोक्ष का साधन है जैसा कि वेद ने कहा है:—

'विद्ययामृतमश्नुते'

यजुर्वेद । अ० ४० । मं० १४ ॥

अर्थ:—विद्या से (मनुष्य) अमरपद को प्राप्त होता है। विद्या जहां मोक्षप्राप्ति में हेतु है वहां सांसारिक उन्नति का भी कोई काम बिना विद्या के नहीं हो सकता। और सब धन व्यय करने से घट जाते हैं परन्तु विद्या वह धन है जो व्यय करने से बढ़ता है। विद्वान का स्थान राजा से भी ऊंचा है जैसा कि कहा है:—

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

चाणक्यनीति । अ० ।

अर्थ:—विद्वान और राजा की कभी तुलना नहीं हो सकती। राजा तो अपने देश में ही पूजा जाता है परन्तु विद्वान की सर्वत्र पूजा होती है।

धर्माधर्म का निश्चय बिना विद्या के नहीं हो सकता इसलिये मनु ने इसको धर्म का आठवां अंग कहा है।

सत्य

अपनी आत्मा में जिस चीज़ को जैसा समझना वैसा ही वाणी और कर्मद्वारा प्रकट करना सत्याचरण कहलाता है। बड़े २ ऋषि मुनि और आप्त पुरुष सत्य का मंडन और असत्य का खंडन सदैव करते चले आये हैं। सत्य धर्म का आधार है, विना सत्य के धर्म की स्थिति ही नहीं है। उपनिषद् में धर्म की महिमा इस प्रकार बताई गई है:—

'सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।'

मुण्डकोपनिषद्। मु० ३। मं० ६॥

अर्थ:—सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं और सत्य से ही विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है।

सत्यासत्य का निर्णय किये विना धर्म का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में जिन आठ प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव) का वर्णन किया है वह सत्यासत्य की परीक्षा के महान साधन हैं। पाठकों की जानकारी के लिये हम संक्षिप्त रूप से उनकी व्याख्या यहां करेंगे।

प्रत्यक्ष

सत्य की परीक्षा का पहला साधन 'प्रत्यक्ष' है । प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए महर्षि गोतम न्यायदर्शन में कहते हैं:—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

न्यायदर्शन । अ० १ । आ० १ । सू० ४ ॥

अर्थः—इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले अनिर्देश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं ।

अनिर्देश्य—अनिर्देश्य शब्द का अर्थ है कि वह ज्ञान जो निर्देशमात्र (नाममात्र) न हो जैसे किसी ने किसी से कहा कि जाओ पुस्तक ले आओ । वह समझ गया कि यह पुस्तक मंगाता है । यहां उसको पुस्तक का ज्ञान तो हुआ परन्तु साक्षात नहीं हुआ—इस ज्ञान को नाममात्र ज्ञान कहते हैं, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहलाता । प्रत्यक्षज्ञान वह है जहां साक्षात हुआ हो ।

अव्यभिचारी—अव्यभिचारी शब्द का अर्थ है अपरिवर्तनशील अर्थात् जो बदलने वाला न हो । उदाहरणार्थ

किसी ने रात के समय किसी खम्भे को देखकर यह समझ लिया कि यह कोई मनुष्य खड़ा है परन्तु प्रातःकाल उठकर जब देखा तो विदित हुआ कि यह मनुष्य नहीं प्रत्युत खम्भा है। ज्ञान में परिवर्तन हो गया अर्थात् पुरुषज्ञान का स्थान स्तम्भज्ञान ने ले लिया। ऐसा ज्ञान जिसमें परिवर्तन हो जावे व्यभिचारी ज्ञान कहलाता है। व्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता, प्रत्यक्षज्ञान वह है जिसमें परिवर्तन न हो।

व्यवसायात्मक——व्यवसायात्मक शब्द का अर्थ है निश्चयात्मक अर्थात् जिसका देखने वाले को निश्चय हो। उदाहरणार्थ किसी ने दूर से देखा कि कोई सफेद चीज़ चमक रही है, पता नहीं रेत है या पानी बह रहा है। यहां देखने वाले को इस बात का निश्चय नहीं है कि रेत चमक रही है या पानी बह रहा है। ऐसा ज्ञान अनिश्चयात्मक कहलाता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहते। प्रत्यक्षज्ञान वह है जहां देखने वाले को देखी हुई वस्तु का निश्चय हो। उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि साक्षात, अपरिवर्तनशील और निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

'अनुमान'

प्रत्यक्ष के पश्चात सत्यासत्य की परीक्षा का दूसरा साधन 'अनुमान' है। अनुमान शब्द का अर्थ है पीछे से उत्पन्न होने

वाला ज्ञान। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होकर उसके पश्चात जो ज्ञान उत्पन्न हो उसको 'अनुमान' कहते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है जैसा कि कहा है:—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ॥

न्यायदर्शन। अ० १। आ० १। सू० ५॥

अर्थ:—प्रत्यक्ष के पश्चात उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

'पूर्ववत्' :—पूर्ववत् अनुमान उसको कहते हैं जहां कारण को देखकर कार्य का ज्ञान हो जैसे विवाह होते देखकर होने वाली सन्तान का, बीज बोते देखकर उत्पन्न होने वाली खेती का, आटा गूंधते देखकर पकने वाली रोटी का आदि आदि। दूसरे शब्दों में यूं भी कहा जा सकता है कि किसी वस्तु को देखकर भविष्य में उससे उत्पन्न होने वाली कि[illegible] चीज का ज्ञान 'पूर्ववत् अनुमान' कहलाता है।

'शेषवत्' :—शेषवत् अनुमान उसको कहते हैं जहां कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो जैसे सन्तान उत्पन्न होते देखकर माता पिता के संयोग का, बने हुए संसार को देखकर बनाने वाले परमात्मा और उपादान कारण प्रकृति का, दुःख

अग्नि का आदि आदि। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि किसी वस्तु को देखकर उससे पूर्व-स्थित किसी वस्तु का ज्ञान शेषवत् अनुमान कहलाता है।

सामान्यतोदृष्ट :—साधारण अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। इसमें कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होता, केवल किसी सामान्यभाव को देखकर इसकी उत्पत्ति होती है जैसे भूख लगती है तो खाना खाया जाता है इससे किसी को खाना खाते देखकर यह अनुमान होता है कि इसको भूख लग रही होगी।

यह तीनों प्रकार के अनुमान सत्यासत्य की परीक्षा में महान सहायक हैं।

'उपमान'

जिससे किसी वस्तु की उपमा दी जावे उसको 'उपमान' कहते हैं। उपमान का लक्षण करते हुए महर्षि गोतम लिखते हैं :—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।।

न्यायदर्शन। अ० १। आ० १। सू० ६ ।।

अर्थ :—प्रत्यक्ष समानता के कारण जो किसी प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का साधन बने उसको 'उपमान' कहते हैं जैसे किसी व्यक्ति ने किसी से कहा कि 'तुम चन्द्रभान को

बुला लाओ'। वह बोला कि 'मैंने तो चन्द्रभान को कभी नहीं देखा, मैं कैसे बुला सकता हूँ'। इस पर वह व्यक्ति कृष्णकुमार को दिखाकर बोला कि 'देखो जैसा यह कृष्णकुमार है, ऐसा ही वह चन्द्रभान है'। वह कृष्णकुमार को देखकर चन्द्रभान को बुलाने चला गया और कृष्णकुमार की सदृशता के कारण चन्द्रभान को पहचान कर उसको बुला लाया।

यहां कृष्णकुमार को देखकर चन्द्रभान का ज्ञान हुआ अतः कृष्णकुमार 'उपमान' है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

'शब्द'

सत्यासत्य की परीक्षा का चौथा साधन 'शब्द' है। 'शब्द' का लक्षण करते हुए महर्षि गोतम लिखते हैं :—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥

न्यायदर्शन। अ० १। आ० १। सू० ७॥

अर्थ :—आप्त पुरुषों के उपदेश को 'शब्द' कहते हैं।

पूर्ण विद्वान धर्मात्मा सत्यवादी तथा परोपकारी पुरुष को 'आप्त' कहते हैं। आप्त पुरुषों के वचन सत्यासत्य के निर्णय में महान सहायक हैं। सबसे बड़ा आप्त ईश्वर है क्योंकि उससे बढ़कर विद्वान परोपकारी और धर्मात्मा दूसरा कोई नहीं। उसका वचन वेद है जो सत्यासत्य के विवेक का सबसे

बड़ा साधन होने से स्वतः प्रमाण है। उसके अतिरिक्त बहुत से धर्मात्मा पूर्ण विद्वान परोपकारी और सत्यवादी ऋषि मुनि संसार में हुए हैं, उन्होंने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए समय समय पर जो अनेक ग्रन्थ रचे हैं और उनके द्वारा जो उपदेश संसार को दिया है वह सत्यासत्य का ज्ञान कराने वाला होने से सबके लिए प्रमाण है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्य प्रमाणों की भांति शब्दप्रमाण भी सत्य की परीक्षा का एक महान साधन है।

'ऐतिह्य'

इतिहास को 'ऐतिह्य' कहते हैं—यह सत्य की परीक्षा का पांचवां साधन है। इतिहास से मनुष्य को बहुत सी बातों का ज्ञान होता और सत्यासत्य का पता चलता है, उदाहरणार्थ रावण ने पराई स्त्री को चुराया तो उसका सर्वनाश होगया। इससे विदित हुआ कि पराई स्त्री पर कुदृष्टि रखने का बुरा परिणाम होता है। इसी प्रकार के असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'अर्थापत्ति'

किसी कहीहुई बात से किसी न कही हुई बात को जान लेना 'अर्थापत्ति' कहलाती है जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'बादल घिर कर आते हैं तो वर्षा होती है' इससे बिना

कहे यह बात विदित हो गई कि 'यदि बादल घिर कर नहीं आयेंगे तो वर्षा नहीं होगी'। अर्थापत्ति भी ज्ञान-प्राप्ति का हेतु और सत्यासत्य का बोध कराने वाली है।

'संभव'

सत्यासत्य की परीक्षा का सातवां साधन 'सम्भव' है। जो बात हो सकती हो उसको 'सम्भव' और जो न हो सकती हो उसको 'असम्भव' कहते हैं। सम्भव का स्वीकार और असम्भव का त्याग सदैव करना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई कहे कि विना माता पिता के सन्तान उत्पन्न हो गई, किसी ने पर्वत को अंगुली पर उठा लिया, किसी ने अंगुली से चन्द्रमा के दो टुकड़े कर दिए, आकाश में फूल खिल गये, किसी ने दश सहस्र वर्ष की आयु पाई, पानी को मथने से घृत निकल आया, ईश्वर का अवतार हो गया, अग्नि ने जलाना छोड़ दिया आदि २ तो यह सब बातें सृष्टिनियम के प्रतिकूल और बुद्धिविरुद्ध होने से असम्भव हैं और मानने योग्य नहीं। इससे विदित हुआ कि जो बात सम्भव है वही सत्य हो सकती है और जो असम्भव है वह कदापि सत्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार सर्वत्र समझकर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

'अभाव'

किसी वस्तु के न होने को 'अभाव' कहते हैं। अभाव भी

कभी २ ज्ञानप्राप्ति का साधन होता है जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'तुम मेरी पुस्तक ले आओ जो साथ के कमरे में रखी है'। वह वहां गया और पुस्तक की खोज की परन्तु पुस्तक वहां न थी। पुस्तक का अभाव देखकर उसने सोचा कि जब पुस्तक यहां नहीं है तो हो सकता है कि दूसरे कमरे में रखी हो। वह दूसरे कमरे में गया और पुस्तक वहां पड़ी देखकर उसको उठा लाया।

यहां पुस्तक का अभाव ही पुस्तक की प्राप्ति का कारण बना। यदि पहले कमरे में पुस्तक का अभाव न होता तो वह दूसरे कमरे में जाकर पुस्तक कैसे प्राप्त करता इसीलिए अभाव को भी ज्ञान प्राप्ति का एक साधन माना गया है।

उपर्युक्त आठों प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव) सत्यासत्य का विवेक कराने वाले हैं इसीलिए हमने सत्य की व्याख्या के अन्तर्गत उनका संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ उचित समझा।

सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग धर्म का आवश्यक अंग है इसलिए मनु ने सत्य को धर्म का नवां लक्षण कहा है।

'अक्रोध'

क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध में भले बुरे

का ज्ञान नहीं रहता और प्राण तक चले जाते हैं। गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने काम और क्रोध को मनुष्य का प्रधान शत्रु बताया है। क्रोध की उत्पत्ति काम से होती है जैसा कि कहा है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

गीता । अ० २ । ६२, ६३ ॥

अर्थः—विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य की विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और काम से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मृति में भ्रम पैदा होता है। स्मृतिभ्रंस से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने से उस मनुष्य का ही नाश हो जाता है।

क्रोध के विषय में किसी कवि ने कहा है:—

क्रोधो नाशयते धैर्यं क्रोधो नाशयते श्रुतम् ।
क्रोधो नाशयते सर्वं नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥

अर्थः—क्रोध से धैर्य का नाश हो जाता है, क्रोध से शास्त्र-ज्ञान नष्ट हो जाता हे, क्रोध से सब कुछ नष्ट हो जाता है,

क्रोध के समान दूसरा शत्रु नहीं है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि क्रोधी पुरुष धर्म का पालन नहीं कर सकता इसलिये मनु ने क्रोध न करने को धर्म का दशवां लक्षण बताया है।

उपर्युक्त दशलक्षणयुक्त धर्म का पालन प्रत्येक मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। धर्म के नाम से नाक भौं सिकोड़ने वाले नास्तिक लोग भी यदि ठंडे दिल से धर्म के इन दश लक्षणों पर विचार करें तो उन्हें भी इनकी सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी।

'महाभारत के आधार पर धर्म का एक लक्षण'

अब हम नीति की दृष्टि से महाभारत में बताया हुआ धर्म का एक लक्षण पाठकों की जानकारी के लिए यहां देते हैं:—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य–
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

महाभारत। उद्योगपर्व। अ० ३७। ७॥

अर्थः—जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे उसके साथ

वैसा ही बर्ताव करना चाहिए-यह धर्म है। कपटाचरण करने वाले के प्रति कपटपूर्ण व्यवहार और साधुता का व्यवहार करने वाले के प्रति साधुता का बर्ताव करना चाहिए।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से महाभारत में दिया गया धर्म का यह लक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार चलने वाला पुरुष संसार में दुःख नहीं पाता। पाठकों को इसपर विचार करना चाहिए।

'वेद का आदेश'

अब हम वेद के आधार पर धर्म का वह स्वरूप पाठकों को बतायेंगे जिसमें किसी प्रकार की भूल की सम्भावना नहीं है और जिसका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक स्थान पर सुगमता-पूर्वक हो सकता है। यजुर्वेद में लिखा है:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

यजुर्वेद। अ० ४०। मं० ६॥

अर्थः—जो मनुष्य सारे प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देखता है और सब प्राणियों में अपने को देखता है वह फिर संशय को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—सब प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देखना और सब प्राणियों में अपने को देखना—इसका अभिप्राय यह

है कि जब भी मनुष्य कोई व्यवहार किसी के प्रति करे तो पहले यह विचार ले कि क्या यह व्यवहार मैं अपने प्रति चाहता हूँ। जो व्यवहार मनुष्य अपने साथ चाहता है यदि वही दूसरों के प्रति करता है तो यह धर्म है और यदि इसके विपरीत करता है तो अधर्म है। उदाहरणार्थ आप नहीं चाहते कि कोई आपका धन हर ले, आपके घर में आग लगा दे अथवा आपकी बहन बेटी को बुरी दृष्टि से देखे तो आपका भी कर्तव्य हो जाता है कि आप किसी का धन हरण न करें, किसी के घर में आग न लगावें और किसी की बहन बेटी पर बुरी दृष्टि न डालें। दूसरों के सुख दुःख को अपने सुख दुःख के समान समझना ही दूसरों को अपनी आत्मा के तुल्य देखना है। मनुष्य को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी ओर से किसी प्रकार की कोई पीड़ा किसी को न पहुँचे। मन्त्र में 'सर्वाणि भूतानि' जो शब्द आए हैं वह इस बात के द्योतक हैं कि यह दृष्टिकोण केवल मनुष्यों के ही प्रति नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के प्रति होना चाहिए। यदि समता की यह दृष्टि, जिसकी वेद ने आज्ञा दी है, प्राप्त हो जावे तो फिर मनुष्य से पाप हो ही नहीं सकता। धर्म की इससे स्पष्ट, सरल और सुन्दर परिभाषा और क्या होगी ? लोक और परलोक को सुधारने वाले ऐसे उत्तम धर्म को छोड़कर संसार इस समय स्वार्थी मनुष्यों के चलाए हुए नाना प्रकार के मतमतान्तरों के

चक्कर में पड़ा हुआ है जिसका परिणाम यह है कि कहीं सुख शान्ति का नाम भी नहीं है। यदि कोई निष्पक्ष होकर विचार करे तो वह अवश्य इसी निश्चय पर पहुँचेगा कि एकमात्र वैदिकधर्म ही ऐसा धर्म है जो मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाला है। मतमतान्तरों से भरे हुए इस संसार में साधारण मनुष्य की बुद्धि चकित होकर रह जाती है कि वह किस मत को स्वीकार करे और किसको न करे। सब अपने २ धर्म को अच्छा बताते हैं परन्तु अच्छा वही है जिसका आधार सत्य पर हो। विद्या, सत्य और समानता के मूलभूत सिद्धान्तों पर आश्रित यदि कोई धर्म है तो वह केवल वैदिक धर्म है। ऐसी अवस्था में हम वैदिक धर्मियों का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि हम वेदानुकूल आचरण करते हुए जहां स्वयं सच्चे आर्य बनें वहां संसार के कोने २ में भी वैदिक धर्म का प्रकाश फैलावें। अज्ञान के महान अन्धकार को, जो इस समय समस्त विश्व पर छाया हुआ है, नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्देश्य भी तभी पूरा हो सकता है जब हम संसार में सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार करें। एक ओर वह पादरी लोग हैं जो सात समुद्र पार से आकर हमारे देश में ईसाई मत का प्रचार करते हैं और दूसरी ओर हम अभागे हैं कि अपने देश में भी अपने धर्म का प्रचार नहीं कर सकते। इससे बढ़कर शोचनीय अवस्था और क्या होगी।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने जो मार्ग हमको दिखाया था यदि हम उसपर चलकर आगे बढ़ते रहते तो आज न भारत का विभाजन होता और न कश्मीर और शरणार्थियों की समस्या ही हमारे सामने आती। उस मार्ग को न अपनाने का भयानक दुष्परिणाम आज हमारी आंखों के सामने है। यह एक कठोर सत्य है कि आर्यसमाज आज अपने को भूल चुका है और उसने प्रचार का काम प्रायः छोड़ दिया है। साप्ताहिक सत्संग करने और वार्षिक उत्सव मनाने के अतिरिक्त आज और कोई रचनात्मक प्रोग्राम हमारे पास नहीं है। धर्म प्रचार की दृष्टि से यह नितान्त अपर्याप्त है। यदि हम कुछ आर्य लोगों को एकत्रित करके उनको अपनी बात सुना लेते हैं तो इससे क्या बनता है। प्रचार तो उन लोगों में जाकर करना चाहिए जो विरोधी मतों को मानने वाले हैं। प्रकाश की आवश्यकता वहीं होती है जहां अन्धकार हो। जहां पहले ही प्रकाश हो वहां प्रकाश दिखाना निरर्थक है। जबतक आर्यसमाज अपने स्वरूप को पहचान कर पुनः प्रचार का काम आरम्भ नहीं करेगा तबतक देश का कोई कल्याण होने वाला नहीं है। आज प्रत्येक आर्य यह अनुभव करता है कि आर्यसमाज का प्रभाव अब वह नहीं है जो २० वर्ष पूर्व था। इसका प्रधान कारण है स्वार्थ, आपस की फूट और दलबन्दी। हम पदों के लिए लड़ते हैं, एक दूसरे को बुरा

कहते हैं—यह आर्यत्व का चिन्ह नहीं है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज धन अथवा पदों के भूखे नहीं थे। उन्होंने संसार के सब सुखों पर ठोकर मार कर धर्मप्रचार के काम में हाथ डाला था। जबतक वही त्याग और कर्मनिष्ठता हम में उत्पन्न न हो, आर्यसमाज आगे नहीं बढ़ सकता। परमात्मा हमको सद्‌बुद्धि दे ताकि हम सुख, स्वार्थ और प्राणों के मोह को त्याग कर विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर विरोधियों में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करें और उनको आर्य बनावें तभी जगद्‌गुरु दयानन्द का ऋण हम अपने शिर से उतारने में समर्थ हो सकेंगे इत्यलम्।

ज्येष्ठ शुक्ला ऐकादशी रविवार
संवत २०२१ वि०

' प्रार्थना '

(ले०–कविराज रघुनन्दनसिंह 'निर्मल')

१–हे प्रभु सारे जगत के आप ही आधार हो।
सबके कर्ता सबके स्वामी सबके पालनहार हो ॥

२–सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता, सर्वशक्तीमान हो
दुर्गुणों से दूर हो सारे गुणों की खान हो ॥

३–आत्मा जबतक शरण में आपकी आता नहीं।
यत्न कितना ही करे वह सुख कभी पाता नहीं ॥

४–चांद सूरज और सितारे आपके आधीन हैं।
हैं अभागे आपकी भक्ती से जो नर हीन हैं ॥

५–आपकी शक्ति का वर्णन कोई कर सकता नहीं।
अन्त बल का आपके पाया किसी ने कब कहीं ॥

६–आपका यशगान जो करते हैं वह गुणवान हैं।
हैं वही धर्मात्मा सच्चे वही विद्वान हैं ॥

७-सबके भाई और बहन साथी सखा भी आप हैं।
आप ही रक्षक हैं सबके आप ही मां बाप हैं ॥

८-सोते उठते जागते सब काल सबके साथ हैं।
आपका शासन है सब पर आप सबके नाथ हैं ॥

९-चर अचर सारा जगत है आप में ठहरा हुआ।
मूढ़ हैं जो आपको अपने से कहते हैं जुदा॥
१०-जिसने जाना आपको वह आपही का हो गया।
छोड़कर सर्वस्व अपना आप ही में खो गया॥
११-दण्ड देना पापियों को आपका ही काम है।
आप ही हैं न्यायकर्ता आपको परनाम है॥
१२-दुर्गुणों को दूर करके हमको शुभगुण दीजिए।
हम शरण में आये हैं हमको कृतारथ कीजिए॥
१३-तेज बल अरोग्य शक्ती दीजिए सुख सम्पदा।
दास हैं हमपर दया की दृष्टि रखिये सर्वदा॥
१४-आप की भक्ती का मन में भाव हम भरते रहें।
आपके आदेश का पालन सदा करते रहें॥
१५-खुल गई 'निर्मल' की आंखें आंपको पहचान कर।
मग्न है वह आंपको अपने में व्यापक जान कर॥

' उद्बोधन '

१–कण २ में संसार के व्यापक है भगवान ।
मूरख आंखें खोल कर उसको तू पहचान ।।

२–बुद्धी जिनके पास है जो रखते हैं ज्ञान ।
मिलकर उसका प्रेम से करते हैं गुणगान ।।

३–अपना इस संसार में जो चाहे कल्यान ।
काम क्रोध को छोड़ दे तजदे सब अभिमान ।।

४–स्वारथवश क्यों और के तू लेता है प्रान ।
जैसी तुझ में जान है वैसी सब में जान ।।

५–करके उसकी खोज क्यों होता है हैरान ।
देख सके तो देखले तुझमें है भगवान ।।

६–निराकार निर्लेप है उसकी शक्ति महान ।
सोते उठते जागते धर उसका ही ध्यान ।।

७–सौ बातों की बात इक 'निर्मल' की ले मान ।
प्राणिमात्र को जान तू जग में आप समान ।।